TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

TIGHT BINGING
BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178499
UNIVERSAL LIBRARY

नेत्र-दान

[एकांकी रूपक]

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

समालोचनार्थ

जनवाणी-प्रकाशन

प्रकाशक

जनवाणी-प्रकाशन,

१६।१।१, हरिसन रोड, कलकत्ता–७

चित्रकार

श्री इन्द्र दूगड़

प्रथम संस्करण

मूल्य १॥)

मुद्रक

पण्डित हजारीलाल शर्मा

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

२६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता - ७

प्रश्न !

अशोक-परिवार का यह तीसरा और अन्तिम रूपक है।

कुणाल को लेकर कितनी ही रचनायें हुई हैं—और, जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी !

मेरा कुणाल कलाकार है—कला उसे रिझाती है, फँसाती है, अंधा बनाती है। और, इसीलिए वह कहता है—क्या कला भी अंधी होती है ?

एक शाश्वत प्रश्न—जिसका उत्तर कौन दे !

अब मैं इतिहास की ओर से समाज की ओर आना चाह रहा हूँ—रूपक के क्षेत्र में भी।

एक कलाकार के लिए, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने के पहले, एक ऐसे प्रश्न के छोड़ जाने से सुन्दर और क्या हो सकता है ?

क्या आशा करूँ, मेरी यह कृति भी, अन्य कृतियों की तरह हिन्दी-संसार से स्वीकृति पा सकेगी ?

१५।७।५०

दो शब्द

हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि द्रुत गति से होती जा रही है। साहित्य-महारथी आज साहित्य-सम्वर्द्धन में प्राणपण से जुट गये हैं। अभी तक हिन्दी-साहित्य के कितने अङ्ग परिपुष्ट नहीं हो सके हैं। नाट्य-साहित्य उन्हीं में से एक है। नये-नये सुरुचिपूर्ण—साथ ही विशिष्ट आदर्श-निष्ठ—नाटकों का हिन्दी में अभाव एक बहुत ही खटकनेवाली बात है।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा लिखित 'नेत्र-दान'

नामक छोटा नाटक आज अपने साहित्य-प्रेमी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हमें हर्ष हो रहा है। इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् अशोक के पुत्र कुमार कुणाल की करुण-कहानी से हमारे पाठक सुपरिचित हैं। इस कहानी के आधार पर रोचक, नवीन, निराले ढंग से 'नेत्र-दान' को लेखक ने अपनी अनूठी शैली से सकरुण और आकर्षक बनाने में कमाल किया है। रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटकों में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त होगा, ऐसी हमारी निश्चित धारणा है। इसको पढ़ने से भारतीय संस्कृति की अपूर्व झाँकी मिलेगी।

हमें आशा और विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य के प्रेमी पाठक इसको अपनायेंगे और हमें ऐसे और भी नाटक प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा मिलेगी।

—प्रकाशक

प्रथम दृश्य

[सिंहल-द्वीप का एक संघाराम। रात काफी बीत चुकी है। भक्तों की भीड़ छँट गई है।

संघाराम के मध्य-भाग में स्थित भिक्षु महेन्द्र का विहार। महेन्द्र अपने आसन पर अर्द्धध्यानावस्थित अवस्था में बैठे हैं। उनसे थोड़ी दूर पर भिक्षुणी संघमित्रा बैठी है।

विहार के एक कोने में एक दीप-दंड पर शत-वर्तिका दीप जल रहा है। उसकी कुछ बत्तियाँ बुझ चुकी हैं। शेष की लौ भी धीरे-धीरे धीमी होती जा रही है।

महेन्द्र की पलकें जरा हिलती हैं। संघमित्रा उनसे पूछती है—]

संघमित्रा—कुछ सुना है भैया ?

महेन्द्र—[कुछ बोलते नहीं, आँखें जरा खुलनी-सी]

संघमित्रा—सुना है भैया, रक्षिता को.........

महेन्द्र—[आँखें खोलते हुए] क्या ?

संघमित्रा—राजकुमारी रक्षिता को सिंहल-नरेश पाटलिपुत्र भेज रहे हैं !

महेन्द्र—[जैसे चौंककर] रक्षिता को ? पाटलिपुत्र ?

संघमित्रा—हाँ, भैया ! सिंहल-नरेश महाराज तिष्य, अपनी एकमात्र प्यारी पुत्री को, पिताजी की सेवा में, पाटलिपुत्र भेज रहे हैं।

महेन्द्र—क्या कह रही हो, मित्रे ?

संघमित्रा—हाँ, हाँ भैया, रक्षिता पाटलिपुत्र जानेवाली है ! अभी संध्या समय उसकी एक परिचारिका संघाराम में आई थी—हमारी संध्या-अर्चना में सम्मिलित होने ! अर्चना के बाद, उसने मुझे एकान्त में बताया है—यद्यपि इसकी सूचना अभी जन-साधारण को नहीं दी गई है, किन्तु सिंहल-नरेश ने यह निश्चय कर लिया है और रक्षिता को यात्रा की तैयारी करने का आदेश भी दे दिया है !

महेन्द्र—[लम्बी साँस के साथ] हूँ !

संघमित्रा—[साश्चर्य] भैया, यह लम्बी साँस ; यह हूँ ! क्या आपको इस समाचार से प्रसन्नता नहीं हुई भैया ! मैं तो, जब से यह खबर मिली, आनन्द-विह्वल हुई जा रही हूँ ! अहा ! रक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है। पाटलिपुत्र—हमारी प्यारी राजधानी, जिसके चरणों को स्वयं

गङ्गा-मैया, अपनी सारी सहायक नदियों से राजस्व लेने के बाद, दिन-रात पखारा करती हैं—जिसके नागरिक-नागरिकाओं के सारे शारीरिक और मानसिक किल्विषों को धो-धाकर वह उन्हें शाश्वत जीवन और यौवन प्रदान करती हैं ! अहा, हमारा पाटलिपुत्र ! भैया, हमारे उस नगर में कितना जीवन है, यौवन है !

महेन्द्र—हाँ, जीवन है, यौवन है ! [फिर उसाँस लेते हैं]

संघमित्रा—[कल्पना के उछाह में उसाँस पर नहीं ध्यान देती हुई] और, भैया, उस जीवन और यौवन में जब रक्षिता की कला का समावेश होगा ! अहा ! सिंहल की कला से पाटलिपुत्र और भी सुन्दर, सुखद और मुखर हो उठेगा, भैया ! आपने देखा है न ? रक्षिता—कैसा नाचती है, कैसा गाती है, कैसा बजाती है ! और वह सुन्दर भी कितनी है, भैया ?

महेन्द्र—पगली ! कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है !

संघमित्रा—[चौंकती हुई] सर्वनाश······सुन्दरतम वस्तु········· भैया, आप यह क्या कह रहे हैं !

महेन्द्र—कोई विशेष बात नहीं—संसार का एक प्रकटतम तथ्य-मात्र ! सोचो न—कहीं रक्षिता के ये गुण ही पाटलिपुत्र के लिए अमङ्गल सिद्ध हो गये तो !

संघमित्रा—[भयत्रस्त-सी] अमङ्गल ! रक्षिता के ये गुण अमङ्गल ! उफ, मैं तो सोच रही थी कि अच्छा ही हुआ कि जब पिताजी ने मुझे यहाँ भेजा, तो महाराज तिष्य अपनी पुत्री को पाटलिपुत्र भेजें ! शिष्टाचार का नियम भी तो···

महेन्द्र—[बीच में ही बात काटकर] शिष्टाचार का नियम ! मित्र, क्या तुम इतना भी नहीं देख पाती कि तुम्हारे यहाँ आने और रक्षिता के वहाँ भेजे जाने में क्या अंतर है ? तुम यहाँ आयी थी तथागत के शान्ति-धर्म का प्रचार करने : भिक्षुणी बनकर ! किन्तु, रक्षिता क्यों भेजी जा रही है ; किस रूप में भेजी जा रही है ? वह भिक्षुणी बनाकर नहीं भेजी जा रही है, यह तो स्पष्ट ही है ।

संघमित्रा—हाँ, यह बात तो है भैया ! तो भैया, क्या आपको इसकी खबर पहले से थी ?

महेन्द्र—थी ! महाराज तिष्य ने मुझसे इस बारे में राय ली थी । मैंने उदासीनता प्रकट की । इस उदासीनता को उन्होंने मेरा संकोच मान लिया । किन्तु, मित्र, तब से मैंने जितना ही सोचा है, मुझे चिन्ता ही चिन्ता हो रही है । रक्षिता यहाँ भिक्षुणी बनाकर नहीं भेजी जा रही है । वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है । भले ही वह सम्राट् की सेविका कहकर भेजी जा रही हो ; किन्तु, यदि उसमें महत्त्वाकांक्षा जगे···[रुक जाते हैं]

संघमित्रा—महत्त्वाकांक्षा जगे ? [चौंकती-सी] और, वह सम्राज्ञी बनना चाहे ! क्यों भैया ? ओहो, रक्षिता हमारी माताजी की सौत बनेगी ? सौत···

महेन्द्र—हमारी माताजी की सौत ! ह–ह–ह [उपेक्षा की हँसी] मित्र, रक्षिता क्या आकर उनकी सौत बन सकेगी ; हाँ, साम्राज्ञी वह बन सकती है । जिस पद को पैरों से ठुकराकर माताजी विदिशा जा बैठी हैं, रक्षिता उस जूठी पत्तल को पाटलिपुत्र में चाट सकती है । इसके लिए

माताजी को तनिक भी दुःख नहीं होगा ; और न यह मेरे, तुम्हारे या किसी और के लिए चिन्ता का विषय है ।

संघमित्रा—तो और किस बात की चिन्ता हो सकती है, भैया ?

महेन्द्र—पिताजी वृद्ध हैं—दिनरात धर्म-कार्यों में रत ; शासन-कार्यों में व्यस्त ! वह घरेलू मामलों पर न ध्यान देते हैं ; और न देंगे । इधर क्या रक्षिता सम्राज्ञी बनकर ही सन्तुष्ट हो जायगी ? वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है ! कला ! सौन्दर्य ! यौवन !—तीन-तीन अमोघ अस्त्र—कुछ भी अनर्थ हो सकता है, मित्रे !

संघमित्रा—कला, सौन्दर्य, यौवन !—हाँ, कुछ भी अनर्थ हो सकता है, भैया ! [भयभीत-सा होती है]

महेन्द्र—किन्तु, इस प्रसङ्ग में पिताजी को नहीं लाना ; और न मैं साम्राज्य के लिए ही कोई सङ्कट देख रहा हूँ ! पिताजी सांसारिकता से बहुत ऊंचे उठ चुके हैं और मौर्य-साम्राज्य की नींव अब शेषनाग की पीठ तक जा चुकी है । मुझे कुछ चिन्ता है तो एक दूसरे ही कोमल, दुर्बल, असहाय प्राणी के लिए !

संघमित्रा—दुर्बल ? कोमल ? असहाय ? वह कौन प्राणी है, भैया ?

महेन्द्र—तुम भूल गई उसे ?

संघमित्रा—[स्मरण की चेष्टा में] दुर्बल, कोमल···

महेन्द्र—कुणाल !

संघमित्रा—[जैसे चिल्ला पड़ती हो] कुणाल भैया ! दुर्बल,··· कोमल,···असहाय ! हाँ, हाँ, कुणाल भैया, कोमल हैं, दुर्बल हैं, असहाय हैं—उन्हें माताजी ने छोड़ दिया, हमने छोड़ दिया—दुर्बल, कोमल, असहाय—क्या रक्षिता उन पर प्रहार करेगी, भैया ?

महेन्द्र—सिंह के शिकार से लौटा हुआ शिकारी रास्ते में हिरण

पाकर उसे नहीं छोड़ता, मित्र ! दुर्बल, कोमल, असहाय सदैव दया ही नहीं उत्पन्न करते, हिंस्र प्रवृत्ति को भी उद्दीप्त करते हैं !

संघमित्रा—ओह, भैया, भैया, इसे रोकिये, रोकिये ! कुणाल भैया को बचाइये, बचाइये !

महेन्द्र—[गम्भीर होकर] मित्र, हम एक अजीब युग से गुजर रहे हैं। बहुत-सी असम्भव घटनायें, हमारी-तुम्हारी आँखों के सामने घट चुकीं। क्या हम-तुम उन्हें रोक सके ? उल्टे हमीं उनके प्रवाह में बह गये। शायद घटनाओं का वही स्रोत बेचारी रक्षिता को घसीट कर पाटलिपुत्र ले जा रहा है ! रह-रहकर चिन्तायें आ घेरती हैं, किन्तु इन बातों में ज्यादा सिर खपाना क्या हमारे भिक्षु-जीवन के लिये उपयुक्त है ? हम अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते चलें ; देखें, युग-प्रवाह हमें क्या-क्या दिखाता है ?

संघमित्रा—उफ्, कुणाल भैया ! दुर्बल, कोमल, असहाय···ओह ! ओह ! [मुँह ढँककर सिसकियाँ लेती है।]

महेन्द्र—मित्र, चिल्लाने से, रोने-धोने से कुछ नहीं होने-जाने का। कलिङ्ग में हमने जो हत्यायें कीं, रक्त बहाया; अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित्त नहीं हो पाया है ! पिताजी चेष्टा में लगे हैं ; हम-तुम अपने को तपा रहे हैं···किन्तु !···किन्तु···! किन्तु, छोड़ो इन बातों को। जाओ, अपने विहार में जाओ, सोओ। रात काफी बीत चुकी है। शतवर्त्तिका की सभी बत्तियाँ बुझ चुकीं, सिर्फ एक बाकी है ; उसे भी बुझाती जाओ···

[संघमित्रा आँसू पोछती हुई उठती है। दीपक की ओर बढ़ती है। उसकी आँखों से अचानक आँसू की धारा फूट पड़ती है। जब वह झुककर दीपक बुझा रही है, आँसू की एक बूँद उसकी लौ पर गिरती है—दीपक बुझ जाता है—वह चीख उठती है—घोर अंधकार !]

द्वितीय दृश्य

[पाटलिपुत्र का राजप्रासाद। रक्षिता का विलास-कक्ष। संगीत के साधन-उपसाधन इधर-उधर सजा कर रखे हैं। बीच में रक्षिता बैठी है—शृङ्गार-प्रसाधनों से मंडित। सामने कुणाल बैठा है। रक्षिता के मुख-मंडलपर हार्दिक उथल-पुथल की छाया। कुणाल के चेहरे पर सादगी और सौम्यता खेल रही हैं।]

कुणाल—तो भैया वहाँ क्या करते हैं आर्ये?

रक्षिता—आपके भैया! कुमार, अह्, वह क्या मनुष्य हैं? नहीं, नहीं, वह तो देवता हैं! सारा सिंहल उन्हें देवता की तरह पूजता है! और क्यों न पूजे? क्या उनका व्यवहार साधारण भिक्षु-सा होता है? वह तो

एक साथ ही भिक्षु, चिकित्सक, सेवक—क्या-क्या नहीं हैं? जहाँ कहीं अज्ञान है, पीड़ा है, दुःख है, शोक है, वहाँ भिक्षु महेन्द्र उपस्थित! अभी उस साल हमारे देश में महामारी फैली—अपने को अपना नहीं पूछता था! किन्तु, आपके भैया!—अहा! कहीं दवा दे रहे; कहीं परिचर्या कर रहे!—गन्दगियों को अपने हाथ से धोने और शवों को ढोकर उनका अन्तिम संस्कार करने में भी उन्हें सङ्कोच होता था? आप जुटे थे; भिक्षुओं को जुटाया था। सारा सिंहल उनके धन्य-धन्य से गूँज उठा!

महेन्द्र—मेरे भैया ऐसे ही हैं; आर्ये! वह जिस ओर मुड़ेंगे, कमाल कर दिखायेंगे! भैया! [भावनाविभोर होकर प्रणाम करता हुआ] प्रणाम भैया! और मेरी मित्रा—आपलोगों की संघमित्रा—वह क्या करती रहती है, आर्ये?

रक्षिता—देवी संघमित्रा, सारे सिंहल की आराध्या बन चुकी हैं। उनके शील और सेवा पर सारा सिंहल मुग्ध है! सब कहते हैं, कैसा होगा वह देश, जिसमें देवी संघमित्रा जैसी नारियाँ उत्पन्न होती हैं?

कुणाल—आह, मेरी नन्ही बहन! [लम्बी साँस लेता है।]

रक्षिता—कुमार, संघमित्रा जैसी बहन पर क्या 'आह' करने की आवश्यकता है? ऐसी बहन तो संसार में सबको मिले—जो कुल को उज्ज्वल करे, देश को उज्ज्वल करे, विदेश को उज्ज्वलता दे! देवी संघमित्रा को देखकर ही तो मुझे आपके देश में आने की प्रेरणा मिली! उनकी स्मृति से ही मेरा सिर झुक जाता है, कुमार! [हाथ जोड़कर प्रणाम करती है।]

कुणाल—आह, मित्रा ने क्या-क्या नहीं छोड़ा? खिलौना-सा पुत्र; देवता-सा पति; स्वर्ग-सा घर! किन्तु, यह तो सब कोई जानते हैं! आर्ये,

मेरी समझ में मित्रा का सबसे बड़ा त्याग था, अपनी कला का सदा के लिए परित्याग कर देना ! घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना, सच्चे कलाकार के लिए, कला का त्याग करना। सच्चे कलाकार के लिए, उसकी कला जीवन की साँस होती है। आर्ये, सिंहल ने मेरी बहन का सिर्फ ढाँचा-मात्र पाया है, अपने प्राण को वह यहीं गंगा-मैया के समर्पित कर गयी ! उफ्, उस दिन, अपने सारे वाद्य-यन्त्रों और संगीत-साधनों को किस प्रकार उसने निर्ममता से गंगा के जल में डाल दिया—एक-एक कर उन्हें उठाती, चूमती, सिर से लगाती और फिर काँपते हाथों से……[आँखों में आँसू आ जाते हैं, गला रुँध जाता है।]

रक्षिता—[उसकी आँखें भी छलाछला उठती हैं।] हाँ, कुमार, कलाकार के लिये, सबसे बड़ा त्याग है कला का परित्याग ! इतना बड़ा त्याग कर ही तो देवी संघमित्रा ने अपने को इतिहास के लिए अमर बना लिया है ! देवी संघमित्रा कभी गाती, बजाती और नाचती भी होंगी, इसका अनुमान तो वहाँ मुझे प्रायः होता था। साधारणतः चलते-फिरते समय भी मैं, उनके पदों में, एक सूक्ष्म प्रकार का समगतित्व पाती थी ; उनकी मामूली बातचीत में भी अद्भुत स्वर-संधान का आभास मिलता था ; और उनकी उंगलियाँ, जहाँ भी ताल और लय मिले, वहाँ सहज ही नृत्यशील हो उठती थीं ! सचमुच, कला सच्चे कलाकार के लिए जीवन की साँस होती है, कुमार !

कुणाल—आप ही इसे अच्छी तरह समझ सकेंगी ; क्योंकि आप भी कलाकार हैं न ? [संगीत-साधनों पर दृष्टि डालते हुए] आप अपना देश छोड़ आयीं, किन्तु क्या इन्हें छोड़ सकीं ?

रक्षिता—आह, इन्हें छोड़ पाती ! [उसाँस लेती है।]

कुणाल—क्यों ? इनमे तो कुछ मन ही बहलता होगा !

रक्षिता—कुमार, कला अपने लिए वातावरण चाहती है ! यहाँ तो···

कुणाल—हाँ, हाँ, भैया कहा करते थे, यह राज-प्रासाद नहीं, बौद्ध-विहार हो चला है ! जब से मित्रा गई, यह तो पूरा बौद्ध-विहार हो गया है ! मैंने भी गाना-बजाना छोड़ दिया है, आर्ये !

रक्षिता—छोड़ चुके होंगे ! देवी संघमित्रा ने छोड़ दिया······ आपने······

कुणाल— नहीं, नहीं, आर्ये ! कहाँ मित्रा, कहाँ मैं ! वह महाप्राण थी और मैं······दुर्बल······। आह, जब कभी बादल गरजते हैं, पिकी कूकती है ; भौंरे गूँजते हैं, कलियाँ चटखती हैं—हृदय आकुल हो उठता है ! कण्ठ में एक गुरगुरी, अंगुलियों में एक तरह की झिनझिनी अनुभव करने लगता हूँ ! कहाँ मित्रा : कहाँ मैं ! वह महाप्राण ; मैं दुर्बल······

रक्षिता—सभी कलाकार दुर्बल और कोमल होते हैं, कुमार !

कुणाल—दुर्बल और कोमल ! हाँ, हाँ, आपको यह वातावरण खलता होगा !

रक्षिता—इसे तो मैंने स्वयं अपनाया है, फिर मैं किससे शिकायत करूँ ? क्यों करूँ ? किन्तु······[आँखें भर आती हैं।]

कुणाल—आपकी अवस्था का कुछ अनुभव कर सकता हूँ, देवि ! देश से दूर—स्वजन परिजन से दूर······

रक्षिता—[व्याकुल होती है] कुमार—कुमार ! वह बात मत बढ़ाइये। मैं उसे भुलाने की कोशिश में हूँ कुमार ! उफ, कभी-कभी ऐसा लगता है, सारा कलेजा उलटकर मुँह को आ रहा है ! यह एकान्त,

यह गला दबोचनेवाला सन्नाटा······अह······[आँखों की अश्रुधारा आँचल से पोंछती है ।]

कुणाल—तो आर्ये, एक निवेदन ! क्यों न मैं कभी-कभी आ जाया करूँ और संगीत-साधना में आपका कुछ साथ दूँ ? कला हमारी ढाल, हमारी रक्षक भी तो है !

रक्षिता—[कुछ प्रसन्न मुद्रा में] कुमार, कुमार ! हम कलाकार एक दूसरे के हृदय के कितने निकट होते हैं ! आपने तो जैसे मेरी बात ही छीन ली । किन्तु, कुमार···छोड़िए ! उसे भुलाने ही दीजिये ! जिस घाव को भरना है, उसे फिर कुरेदने से······

कुणाल—देवि ! एक बात कहूँ । इसमें मेरा स्वार्थ भी है ! आपके निकट जब-जब आता हूँ, मालूम होता है, अपने भाई-बहन के निकट पहुँच गया ! लगता है, भैया ने, मित्रा ने आपको अपना प्रतीक बनाकर यहाँ भेजा है ! आर्ये, आप कल्पना नहीं कर सकतीं कि भैया मुझे कितना मानते थे ! और मित्रा···वह मुझसे कभी दूर होती थी, आर्ये ! मालूम होता था, जैसे हम जुड़वें भाई-बहन हों—बचपन में एक साथ खाया, सोये ; जवानी में एक साथ गाया, रोये !

रक्षिता—रोये ?

कुणाल—[हँसकर] हाँ, हाँ आर्ये, हम कभी-कभी साथ-साथ रो भी लेते थे । हँसी और रुदन भी जुड़वें भाई-बहन हैं न आर्ये ! क्यों ? [मुस्कुराता है ।]

रक्षिता—[उदास होकर] भगवान किसी को रुदन न दें !

कुणाल—[उसी तरह मस्ती में] किन्तु, उससे बचा कौन है, आर्य ! देख रहा हूँ, वह रह-रहकर आपकी आँखों में भी झाँक जाता है। वह··· वह···वह ! [उँगली से रक्षिता की डबडबाई आँखों की ओर इंगित करता हुआ मुस्कुराता है।]

रक्षिता—[गहरी साँस लेती हुई] ओह, कुमार !

तृतीय दृश्य

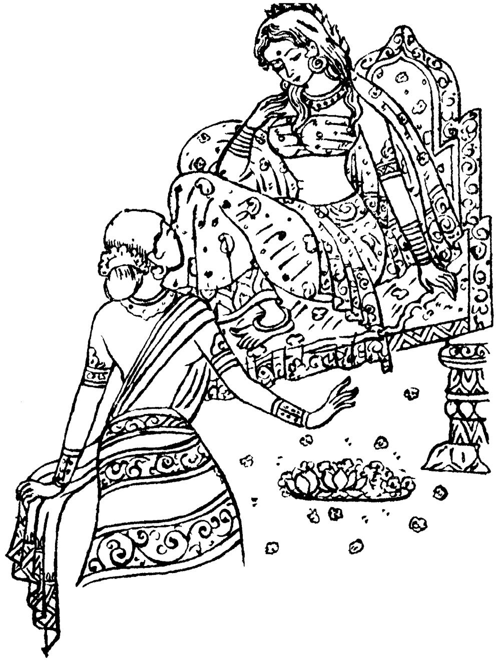

[कांचनमाला का कक्ष । वह विषण्ण, विह्वल-सी बैठी है । रह-रहकर उसाँसें लेती है । परिचारिका आती है । धीरे-धीरे वह कांचनमाला के निकट पहुँचती है ।]

परिचारिका—देवि, इधर आप बहुत उदास······

कांचन—[बीच ही में बात काटकर] कुमार कहाँ हैं ?

परिचारिका—छोटी सम्राज्ञी के कक्ष में होंगे भद्रे ! हाँ, हाँ, वहीं हैं ! सुनिये न, वह सङ्गीत-ध्वनि······[संगीत की झंकार सुनाई पड़ती है ।]

कांचन—यह दिन-रात का सङ्गीत !

परिचारिका—अच्छा है, भद्रे, अच्छा है । मन्त्रों की बुदबुदाहट से

कान पक गये थे—अच्छा हुआ, छोटी सम्राज्ञी ने फिर से इस घर में सङ्गीत-नृत्य की प्रतिष्ठा की। आपको भी तो सङ्गीत बहुत प्रिय था भद्रे ! आप भी इसमें क्यों नहीं सम्मिलित होती हैं देवि ! आपका और कुमार का सम्मिलित गीत-नृत्य देखे-सुने तो कितने दिन हो गये !

कांचन—परिचारिके, पिछली बातों को मत छेड़। गया हुआ आदमी लौट भी आवे, जो दिन गये—गये !

परिचारिका—(गम्भीर होकर) अन्धी नहीं हूँ भद्रे ! सब कुछ देख रही हूँ। हाँ, बात कुछ सीमा से बाहर जा रही है ! तो आप कुमार से क्यों नहीं कहतीं कि मर्यादा का अतिक्रमण···

कांचन—क्योंकि मैं कुमार को जानती हूँ। कुमार कलाकार हैं; कलाकार बीच में रह नहीं सकते। कलाकार को सबसे अधिक आनन्द मिलता है मर्यादा का अतिक्रमण करने से। कलाकार—मर्यादा का शत्रु ! शायद यह उसके लिए आवश्यक भी हो ! यदि वह ऐसा न करे, तो कला की अभिवृद्धि ही रुक जाय—वह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रहे, या चक्कर काटे ! एक नई धुन; एक नया गत; एक नई रेखा; एक नया रंग; एक नई उक्ति, एक नई उपमा—इसके लिए कलाकार की आत्मा छटपटाती रहती है। सिंहल की इस युवती ने कुमार के सामने कला का एक नया सागर लहरा दिया है—रंग नया, तरंगें नयी। कुमार उन तरंगों से खेल रहे हैं—क्या उन्हें इससे रोका भी जा सकता है ?

परिचारिका—किन्तु, राजभवन में तरह-तरह की बातें···

कांचन—ये बातें तो सब झूठी होंगी, परिचारिके ! मैं कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं, जहाँ वासनाओं की

छाया भी पहुँच नहीं सकती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रंग होता है, पवित्रता हो जहाँ की गन्ध होती है! कुमार···नहीं, नहीं। कुमार की ओर से मुझे तनिक भी आशङ्का नहीं है परिचारिके! तो भी, न-जाने क्यों; मुझे बार-बार लगता है, जैसे यह कुछ अच्छा नहीं हो रहा है। लगता है, क्षितिज के किसी अदृश्य छोर पर, कहीं आँधी चल रही है!

परिचारिका—देवि, क्षमा कीजिये, तो मैं कहूँ!

कांचन—बोल,······

परिचारिका—(कांचनमाला की ओर देखती रह जाती है)

कांचन—बोल, बोलती क्यों नहीं?

परिचारिका—भद्रे, नई सम्राज्ञी को जब-जब देखती हूँ, मुझे बार-बार उस काली सर्पिणी की याद आ जाती है, जो उस रात अचानक प्रसाद के प्राङ्गण में निकल आयी थी—वैसा ही रंग, वैसी ही चमक, वैसा हो चपल सारा शरीर, जैसे भीतर के जहर से काँप रहा हो! वही गर्दन, वही दृष्टि—जैसे कहीं किसी का मर्म ढूँढ़ा जा रहा हो। देवि, देवि, कुमार को वहाँ जाने से रोकिये!

कांचन—जानती हूँ सखि, वह आग से खिलवाड़ कर रहे हैं। किन्तु, उस जिद्दी, हठी बच्चे को रोक रखना क्या इतना आसान है? क्या करूँ, समझ में नहीं आता। चिन्ता खाये जा रही है। समझाती हूँ, तो कहते हैं—तुम स्त्रियाँ बड़ी ईर्ष्यालु होती हो! स्त्रियाँ; ईर्ष्यालु! किन्तु, भूल जाते हैं कि स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती हैं तो क्यों? क्योंकि वह अपनी जाति की सबलता जानती हैं और जानती हैं पुरुष-हृदय के उस दुर्बल स्थान को, जहाँ प्रहार किये जाने पर, यह भारी-भरकम जानवर औंधे-मुँह गिर पड़ता है!

परिचारिका—बहुत सही कह गयीं भद्रे ! फिर जवानी की राह—फिसलनभरी !

कांचन—[क्रोध की मुद्रा में] जवानी को बहुत बदनाम किया गया है परिचारिके ! जवानी की राह फिसलन-भरी है, तो उसके पैरों में शक्ति और दृढ़ता भी है ! मुझे तो बुढ़ापे से डर लगता है परिचारिके !

परिचारिका—बुढ़ापे से !

कांचन—हाँ, बुढ़ापे से ! जो भोग नहीं सकता ; किन्तु, छोड़ भी नहीं सकता ! जिसकी अशक्तता जलन की धूनी रमाये रहती है ! जो अपने को भुलाने के लिए तरह-तरह का उपचार खोजता है ; किन्तु पाता नहीं है । बुढ़ापा ; मानवता की लाश · ·

परिचारिका—देवि, देवि, आप किधर लक्ष्य कर रही हैं ? क्या आपको सम्राट से· ·

कांचन—हाँ, मुझे सम्राट से भय है ! भय है, स्वयं सम्राट् शायद यह पसन्द न करें कि कुमार और सिंहल-कुमारी इस प्रकार दिन-रात एक साथ रहा करें !

परिचारिका—ओह, आप यह क्या कह रही हैं ? सम्राट् को तो धर्म-चर्चा······

कांचन—परिचारिके, इस प्रसङ्ग पर हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है ! लेकिन एक बात याद रख—जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो, समझ, उसके हृदय में कहीं उतनी ही अशान्ति है ! और, उस अशान्ति से जलते हृदय में, जिस दिन निराश किशोरी का भग्न हृदय,

प्रतिहिंसा से उद्वेलित होकर, नया ईंधन डालेगा, उस दिन उसकी लपट से कौन किसकी रक्षा कर सकेगा ?

परिचारिका—निराश किशोरी—भग्न हृदय !

कांचन—हाँ, मेरा विश्वास है, एक-न-एक दिन सिंहल-कुमारी को अनुभव करना पड़ेगा कि मेरे कुमार उस धातु के नहीं हैं, जिसकी कल्पना उन्होंने कर रखी है ! फिर क्या होगा ? उफ, मालूम होता है, अशोक-परिवार पर ही किसी कुग्रह की शनि-दृष्टि पड़ गयी है ! माताजी कहाँ गयीं, जेठजी कहाँ गये ; दीदी कहाँ गयी ? मेरे जिम्मे एक अजीब जीव सौंप गये—दुर्बल, कोमल···[उसाँसें लेती है ।]

[कुछ आहट]

परिचारिका—अहा ! वह देखिये ; कुमार आ रहे हैं [दूर से कुमार आते दिखायी पड़ते हैं ।] हमारे कुमार कितने सुन्दर हैं, भद्रे ! सुन्दर, सुडौल, छरहरा बदन और उस पर वे आँखें—सदा अधखुली, अधमुँदी ! मानों एक नाल पर दो अधखिले कमल ! हाँ, हां, एक नाल पर दो अधखिले कमल ! वही आकार, वही रंग, वही मादकता, वही मोहकता ! क्या संसार में कोई ऐसा हृदय है, जो इन आँखों पर मुग्ध न हो रहे !

[कुणाल का प्रवेश]

कुणाल—किन आँखों की बातें हो रही हैं ? [परिचारिका को देखकर] ओ, तुम ! अच्छा, परिचारिके, जाओ, जरा मेरे लिए थोड़ा पेय का तो प्रबन्ध करो ! [अचानक कह उठता है ।] अह, छोटी माताजी थका डालती हैं ! [परिचारिका घूरती है ; उस ओर घूमकर] अरी, तुम गयी नहीं ! [परिचारिका जाती है ।] हाँ, हाँ, सच कह रहा हूँ ; कञ्चने, छोटी माताजी

थका डालती हैं ! यह गाइये, वह गाइये ; यह बजाइये, वह बजाइये ! एक दिन कहने लगीं—शायद आप नृत्य भी जानते होंगे ! बोलो, मैं उनसे क्या कहता ?

कांचन—तो क्या आपको कोई जवाब नहीं सूझा ?

कुणाल—अरे, किस-किस बात का जवाब सूझे ! वह अजीब नारी हैं, कंचने ! कब क्या बोल जायंगी, कुछ ठिकाना है ? अभी उस दिन की बात है, बड़ी देर तक मेरा मुँह निहारती रहीं, फिर कह उठीं—कुमार, आपकी ये आँखें कितनी सुन्दर हैं ! यहाँ भी तो शायद उनकी ही चर्चा हो रही थी ! क्या मेरी आँखें सचमुच बड़ी सुन्दर हैं, कंचने ?

कांचन- जब नई माताजी कह रही हैं···

कुणाल—कहा न तुम्हें कञ्चने, यह छोटी माताजी अजीब नारी हैं। जब उनसे यही पूछा—तो, उनकी आँखों में आँसू छलछला आये और बोलीं—कुमार, आपको मालूम नहीं, ये आँखें कैसी हैं ; एक बार इन आँखों को देखकर इनसे अलग रहना·········

कांचन—[उसांसें लेती हुई] हूँ·········

कुणाल—किन्तु, मैंने उन्हें बीच में ही टोक दिया, कञ्चने ! और कहा—आर्ये, इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं आपके ही पास बैठा रहूँ। क्या यह सम्भव है ? आदमी सदा एक ही जगह कैसे बैठे रह सकता है ? जानती हो कञ्चने, तुम्हारा नाम सुनते ही वह बोल उठीं—देवी कञ्चनमाला कितनी सौभाग्यशालिनी हैं !

कांचन—[व्यंग्य में] हाँ, मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूँ !

कुणाल—और, कंचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा—आर्ये, यदि आप इन आँखों से दूर नहीं रह सकतीं; तो मैं एक काम करूं—आँखें निकालकर आपके समर्पित कर देता हूँ, शरीर कांचन के पास रहेगा!

कांचन—[व्याकुल होकर] कुमार, कुमार! उफ, यह क्या बोल रहे हैं आप?

कुणाल—छोटी माताजी भी इसी तरह व्याकुल हो उठी थीं, कंचने! झट उन्होंने अपने हाथों से मेरा मुँह बन्द कर दिया और जानती हो, भावना-विभोर होकर बार-बार मेरी आँखों को चूमने लगीं। सच कहता हूँ, जब वह आँखों को चूम रही थीं, तो मुझे अपनी माताजी की याद आ गई! आह! वह भी योंही मेरी आँखें चूमा करती थीं, और कहा करती थीं—कहीं मेरे बेटे की इन आँखों को किसी चुड़ैल की आँख न लग जाय!

कांचन—उनकी आशंका निराधार नहीं थी, कुमार!

कुणाल—कंचने! माताजी!—आह, माताजी कहाँ चली गईं? क्यों चली गईं? क्या माताजी को हमारी याद नहीं आती होगी, कंचने! उफ, यह कैसी बेबस हो गई—माताजी विदिशा में, भैया और मित्रा सिंहल में.........

कांचन—शायद हमें भी पाटलिपुत्र छोड़ना पड़े कुमार!

कुणाल—यह क्या कह रही हो कंचने? हम पाटलिपुत्र छोड़ देंगे, तो छोटी माताजी का क्या होगा? एक दिन उन्होंने कहा भी था—कुमार, आप नहीं होते, तो जाने मेरी यहाँ क्या गति हुई रहती! और, यह कह कर ऐसा मुँह बना लिया कि तुम्हारी याद आ गई।

कांचन—मेरी ?

कुणाल—अरी पगली, तुम कभी भुलाई जा सकती हो ! तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी भक्ति, तुम्हारा भोलापन ! लेकिन एक बात । भोलेपन में छोटी माताजी तुम्हें भी मात दे सकती हैं । एकदम बच्ची ; कुछ समझतीं नहीं । एक दिन कहने लगीं—कुमार, आप मुझे आर्य नहीं कहा कीजिये ; यह माता का सम्बोधन ···· सचमुच उनका कहना सही था । उम्र में मुझसे भी छोटी, शायद तुम से भी । उन्हें 'आर्य' कहते मुझे भी कैसा जो लगता है ! मैंने कहा बात तो जंचती है, किन्तु फिर क्या कहकर पुकारूँ आपको ?

कांचन—और आप दोनों, चेष्टा के बाद भी, कोई नया सम्बोधन नहीं पा सके ?

कुणाल—अभी तक तो हम नहीं पा सके हैं कंचने ; तुम्हीं बता दो न ! और हा, हा, इसी सिलसिले में वह यह भी कहने लगीं—मुझे जो आप 'आप-आप' कहकर पुकारते हैं, यह भी अच्छा नहीं लगता । और उसी साँस में यह भी पूछ बैठीं—क्या देवी कांचनमाला को आप 'आप' ही कहकर सम्बोधित करते हैं ? और, ज्योंही मेरे मुँह से निकला—वह तो पत्नी है और आप माता ! तो फिर क्या हुआ, जानती हो ? वह एकबारगी मेरी गोद में सिर धरकर रो उठीं—उफ, हिचकियाँ, आसुओं की अविरल धारा ! और सच कहूँ, तो मेरी आँखों में भी आँसू छलछला आये कंचने ! [कांचनमाला काँप उठती है ; उसकी आँखों में भी आँसू छलछला आते हैं] अरे, यह तुम्हारी आँख भी······

कांचन—[रुँधे गले मे] अब इस राजभवन को हम छोड़ें, कुमार ! ओह, ओह···

कुणाल—यों छोड़ना चाहो, तो सुयोग भी है। अभी उस दिन महामात्य से मालूम हुआ कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर कुछ उपद्रव हो रहा है और पिताजी चाहते हैं कि यदि मैं कुछ दिनों तक उस ओर जाकर रहूँ, तो शायद मामला सुलझ जाय।

कांचन—हाँ, मामला सुलझ जाय! [लम्बी उसाँसें लेती है।]

कुणाल—क्यों कंचने, तुम्हारे इस कहने में कुछ और भी मानी है क्या?

कांचन—मेरे कुमार, हर कहने में कुछ-न-कुछ मानी छिपा रहता ही है। किन्तु मेरे भोले, मेरे भावुक, अच्छा है, तुम इनसे परे हो। उपद्रव—सीमा पर! किस सीमा पर? सम्राट, सम्राट! व्यर्थ में स्त्रियाँ बदनाम की जाती हैं कि उनमें ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है। हर कमजोर में ईर्ष्या होती है। हूँ! उपद्रव! सीमा पर! कैसा उपद्रव? किस सीमा पर? [कुणाल से लिपटती हुई] हाँ, हाँ, कुमार, हम यहाँ से चलें; रास्ते में ही विदिशा में, माताजी के दर्शन भी कर लेंगे! चलें······

[कांचन कुमार के साथ पूरी तरह लिपट जाती है।]

चतुर्थ दृश्य

[तिष्यरक्षिता अपने विलास-कक्ष मे। उसके चारो ओर वाद्य, सगीत और नत्य के साधन बिखरे पड हैं। वह दर्पण क सामने बैठी है। उतरा हुआ चेहरा, बिखर बाल, गीली आँखें। बडी देर तक दर्पण मे अपने को देखती है, फिर अपने प्रतिविम्ब से बोल उठती है—]

रक्षित! यही है तू! यही गति होनी थी तेरी! कहाँ पैदा हुई, कहाँ रहने आई! मर, मर, रक्षित!

[थोडी देर आँखे मूद लेती है।]

मरेगी रक्षित? हा, हा, जीना चाहती है, किन्तु सिवा मृत्यु के कौन चारा है तेरे लिए? यह उपेक्षित जीवन, अपमानित जीवन, लाञ्छित जीवन! क्या इस जीवन से मृत्यु अधिक दु खद, भयप्रद और वीभत्स होगी? तुझे मरना चाहिये, मरने को तैयार होना चाहिये, रक्षित!

[गला सहसा रुध जाता है।]

पिताजी, पिताजी, यह आपने क्या किया? मुझे कहाँ भेज दिया पिताजी? अजीब यह देश है, अजीब यहा क लोग है! समझ में नही

आता, क्या कहते हैं, क्या चाहते हैं ? मालूम होता है, यहाँ की बातें ही अलग नहीं, इशारे भी अलग हैं !

[क्रोध की मुद्रा में]

नहीं, जानबूझकर यहाँ मेरी उपेक्षा की गयी है ! रक्षिते, पगली, अपने को धोखे में मत रख। जानबूझकर तेरी उपेक्षा की गयी है ! हाँ, जान-बूझकर उपेक्षा की गयी है ; किन्तु इस ढङ्ग से कि तू धोखे में रहे ! उँह, इस सारे भवन में ढोंग ही ढोंग भरा है। धर्म का ढोंग, प्रेम का ढोंग, कला का ढोंग ! ढोंग ! ढोंग !

[मुस्कुराती हुई]

बूढ़े सम्राट् ! अह, क्या कहने हैं ! दिनभर इस चिन्ता में कि इस देश में धर्मदूत भेजो, उस देश में धर्मदूत भेजो ; यहाँ स्तूप खड़ा कराओ, वहाँ स्तूप खड़ा कराओ। स्तूप खड़ा कराओ, उन पर अच्छे-अच्छे उपदेश लिखवाओ। और सबका आरम्भ करो इस वाक्य से—'देवानाम् प्रिय, प्रियदर्शी अशोक !' 'देवानाम् प्रिय' तो समझी, किन्तु, यह 'प्रियदर्शी' क्या बला है बूढ़े सम्राट् ? क्या आप अपने को सुन्दर भी समझते हैं ! बूढ़ा ! [खिलखिला पड़ती है।] नहीं, नहीं रक्षिते, हँस मत ! सम्राट् कभी सुन्दर भी रहे होंगे ; जरूर रहे होंगे—खण्डहर बताता है, इमारत बड़ी अच्छी रही होगी ! किन्तु कैसा करुण ! खण्डहर समझ रहा है, वह इमारत है। बूढ़े सम्राट् ! तुम पर क्रोध नहीं, करुणा ही आती है ! किन्तु, किन्तु···

[अचानक भौंहें चढ़ जाती हैं।]

किन्तु कुमार, तुम ! तुम !! सम्राट् दुर्बलताओं के साथ भी महान हैं, किन्तु तुम ? ओह कैसा नाटक दिखाया तुमने ? जैसे भोले हो ; जैसे

बच्चे हो ! जैसे कुछ समझते ही नहीं हो तुम ! अरे मैं रोई, गोद में सिर रखकर रोई· ·

उफ, यहाँ प्रेम में ढोंग, कला में ढोंग ! कला, प्रेम—प्रेम, कला ! ओहो—प्रेम को भी तुमने कला समझा ! और कला को···

नहीं, नहीं, तुम्हें घमण्ड है कुमार, अपने रूप का, अपनी आँखों का ! उन आँखों का ! आँखों का ?

[उत्तेजना कम हो जाती है ; गला रुँध जाता है ।]

किन्तु, रक्षिते ! सत्य से दूर मत भाग ! वैसी आँखें संसार में कहीं देखी नहीं गयी होंगी ! वे आंखें, मादक आँखें, मोहक आँखें ! कुमार, कुमार ! ये आँखें तुम्हें कहाँ से मिलीं ? उफ, ये आँखें मुझे जीवित नहीं रहने देंगी कुमार ! बचाओ कुमार, बचाओ !

[फूटकर रो पड़ती है ; फिर सम्हलती है ।]

नहीं, वह तो चला गया ! कहाँ चला गया ? क्यों चला गया ? कांचने ! यह सारी खुराफात तुम्हारी है ! तुम कुमार को ले भागी हो । मुझसे छीनकर तुम कुमार को ले भागी हो ! तुम मुझसे डर गयी । डर गयी ! जब-जब मैं तुम्हारे सामने हुई, देखा, तुम मुझे देखते ही काँप उठती रही ! क्यों काँपती रही ? क्यों, क्यों ? [कुछ सोचती हुई] हाँ, हाँ, मैं सिंहल से आई हूँ न ! सिंहल में राक्षसी बसती है, यक्षिणी बसती है ! वह आदमी को जिन्दा खा जाती है ; भेड़ बनाकर रखती है ! तुम्हें डर था तुम्हारे कुमार को···

[दर्पण में घुरती हुई]

किन्तु रक्षिते ! तू क्या सचमुच राक्षसी है ? राक्षसी का चेहरा ऐसा ही होता है ? राक्षसी के बाल ऐसे ही होते हैं ? राक्षसी के अधर ऐसे होते

हैं ? और, राक्षसी की आँखें ! ये आँखें ! और, वे आँखें—कुमार, कुमार !

[फिर आँखें मूँद लेती है ।]

पिताजी, पिताजी ! मुझे आपने कहाँ भेज दिया पिताजी ! किन लोगों के बीच भेज दिया ! यहीं भेजना था, तो किसी संघाराम में भेजे होते, भिक्षुणी बनाकर भेजे होते । इस राजभवन में क्या भेज दिया—किन लोगों के बीच भेज दिया ! सिंहल—अभिशापित देश ! तुम्हें ये लोग राक्षसपुरी समझते हैं, तुम्हारी बेटियों को राक्षसी समझते हैं ! राक्षसी ! राक्षसी ! कंचने, क्या मैं राक्षसी हूँ ? कुमार, क्या मैं राक्षसी हूँ ?

[अचानक उठकर खड़ी होती है ।]

राक्षसी हूँ तो सम्हल, कंचने ! कुमार को लेकर कहाँ भागी ! कहाँ भगी, कहाँ जायगी !

यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे लगी है ! कुमार कहाँ जाओगे, यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे पड़ी है ! ये आँखें ! वे आँखें ! तुम्हें उन आँखों पर घमण्ड है कुमार ! कंचने, तुम उन आँखों को बचाने के लिए भगी जा रही हो ! और कुमार, उन आँखों के बलपर, तुमने मुझे अपमानित किया, लाञ्छित किया ? उन आँखों के बल पर !

[मुट्ठी बाँधती हुई]

तो, तो……जिन आँखों के बल पर……जिन आँखों के बल पर… हाँ, हाँ, जिन आँखों के बल पर……

[अचानक मुट्ठी ढीली पड़ जाती है ।]

आह, वे आँखें—आह, वे मादक, मोहक आँखें ! वे आँखें, वे आँखें…

[फिर सम्हलती और मुट्ठी बाँधती हुई]

किन्तु, तुम उन्हें देख न सकोगी कंचने! तुम उन्हें बचा नहीं सकोगी कंचने! उन पर राक्षसी की नजर पड़ गयी है! राक्षसी, राक्षसी, राक्षसी!

[एक क्षण रुककर, फिर]

कुमार, याद है, तुमने कहा था, कहिये तो ये आँखें निकालकर आपको दे दूँ! तुमने व्यंग्य किया था कुमार! तुमने मेरी अभिलाषा का उपहास किया था, कुमार! तो, तो······

[गम्भीर होकर दर्पण के सामने फुसफुसाती हुई]

चुप रक्षिते! चुप रह! चुप रह! कोई सुन न ले, कोई जान न ले। वे आँखें—वे आँखें! इन हथेलियों पर! आँखें, हथेलियों पर।········· चेहरे पर आँखें,—कितनी सुन्दर! जब वे इन हथेलियों पर होंगी—उँह, उँह—उफ, उफ! [फिर सम्हलती-सी] लेकिन, यह दुर्बलता कैसी? रक्षिते, तू राक्षसी है न! वे तुम्हें राक्षसी समझते हैं न? फिर क्यों यह कोमल भावना? मानवी रक्षिता का जिसने अपमान किया, वह रक्षिता की राक्षसी का प्रकोप सहे! जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है—राम ने पाया, कुणाल भी पायेगा! सम्हलो, कुणाल!

[उत्तेजना में दर्पण के सामने से हटकर टहलती हुई]

कंचना! हाँ, हाँ, इन्हें अपने रंग पर घमण्ड है, सोने के ऐसे दमकते रङ्ग पर—तभी तो नाम रखा है—कांचनमाला, कांचनमाला। और रक्षिते! तुम काली हो न? तुम्हारे बाल काले हैं न? तुम्हारी आँखें काली हैं न? आँखें! उफ! उफ! नहीं, नहीं! वे आँखें अब इन काली हथेलियों पर! इन काली हथेलियों पर! हाँ, हाँ, वे दोनों आँखें, इन दोनों हथेलियों पर! चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! किन्तु हथेलियों पर—काली हथेलियों पर···हा···हा···हा···हा···हा···हा···

[अट्टहास करती हुई जाती है।]

पंचम दृश्य

[अंधा होकर, कुणाल अपनी पत्नी के साथ, भिखारी के रूप में चल पड़ता है।

आगे-आगे कांचनमाला, पीछे-पीछे उसका कंधा पकड़े, कुणाल ! चलते-चलते, भूलते-भटकते वह पाटलिपुत्र के कहीं आसपास पहुँच जाता है।]

कुणाल—कंचने, हम कहाँ पर हैं कंचने !

कंचना—हमने नाम-धाम कहना और पूछना छोड़ दिया है न ?

कुणाल—यह तो अच्छा ही किया है हमने। भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या ? चले चलो, बढ़े चलो—कुछ मिल जाय, खा लो ;

जहाँ थक जाओ, सो लो। किन्तु कंचने, कुछ खास बात है कि पूछ रहा हूँ—हम कहाँ पर हैं ?

कंचना—क्या खास बात अनुभव कर रहे हैं आप ?

कुणाल—जानती है पगली, अन्धे की अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी तीव्र हो जाती हैं ! अभी-अभी हवा का एक झोंका आया और शरीर से स्पर्श किया, तो मालूम हुआ, जैसे कोई परिचित आकर गले मिल रहा हो ! क्या निकट में कोई तालाब है ? और उसमें कमल फूले हैं ? पुरइन पर बूंद किस तरह चमक रही होंगी, कंचने ? या—या—बगल में कहीं नदी है ? गंगा तो नहीं ? कंचने, यों तो गंगा हर जगह की शीतल, पवित्र ! किन्तु, पाटलिपुत्र के निकट गंगा······अहा ! कंचने, क्या हम पाटलिपुत्र के निकट······

कंचना—कुमार, कुमार, पाटलिपुत्र का नाम न लीजिये, पुरानी बातों की चर्चा मत कीजिये—यह अच्छी बात है कि हम उन्हें भूल गये !

कुणाल—भूल तो गये ही हैं और भूलकर अच्छा ही किया है हमने। किन्तु न जाने क्या बात है कि कंचने, आज इतनी उत्सुकता जगी है ! मालूम होता है कि कहीं पुरानी जगह में आ गया हूँ ! वही हवा ; वही गंध ; वही स्वर-लहरी—जरा ध्यान से तो सुन ! वह कोयल किसी घनी अमराई में बोल रही है या नहीं ? यों तो कोयल जिस किसी डाल पर बोल लेती है, उसकी बोली भली लगती है—किन्तु, विस्तृत, सघन अमराई की बौरों के कुंज में उसकी बोली कुछ और ही होती है—जैसे, स्वर के साथ साथ गंध घुल गई हो,—जैसे, काकली हवा पर तैरती हुई आती हो !

कंचने—कुमार, छोड़िये इन बातों को ! मेरा मन कैसा तो हो जाता है !

कुणाल—हाँ, हाँ, तुम्हारा मन बहुत कोमल है—मुझ से भी कोमल ! जानती हो, कंचने, मैं यह जानता था, इसीलिए उस दिन जब पाटलिपुत्र से वह राजदूत आया और सम्राट् का आज्ञा-पत्र दिया, तो मैंने झट निर्णय कर लिया कि मुझे यह काम तुरन्त कर लेना चाहिये—नहीं तो तुम्हें जरा भी पता चलता, तो क्या यह मेरे लिए सम्भव होता ?

कंचने—उफ,······छोड़िये इन बातों को !

कुणाल—मेरी भोली ! तुम्हारे इस भोलेपन के कारण तो उस दिन मुझे अधिक डर हुआ था। तुरन्त मैंने राजदूत से कहा—आँखें चाहिये ? किस चीज में लोगे ? क्या उन्हें लेने के लिए पात्र लाये हो ? और कंचने, तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा, उसके पास पात्र भी था और अस्त्र भी ! ओहो, जिसे ये आँखें चाहिये थीं ; उसकी आत्मा कितनी कोमल होगी, कंचने ! हाँ, जो करना है, वह जल्द कर लिया जाय और अच्छी तरह कर लिया जाय ! कैसा सुन्दर था वह पात्र और किस तरह चमचम कर रही थी वह छुरी ! छुरी !—उसे देखकर एक बार तो मैं काँप उठा—किन्तु फिर सम्हला और झट उसे दाहिनी आँख······

कंचने—उफ, उफ, यह चर्चा बंद कीजिये, कुमार !

कुणाल—[हँसकर] पगली !······जो होना था हो चुका ; फिर तुम व्याकुल क्यों होती हो ? अच्छा, कंचने, बताओ तो, मैंने पहले दाहिनी आँख को ही क्यों निकाला ?

कंचने—उफ, उफ······

कुणाल—उफ, उफ ! लेकिन मैं तुम से सोलह आने सच कह रहा हूँ, कंचने, मैंने जरा भी उफ नहीं की ! छुरी की नोक भौं के नीचे घुसेड़

दी—और उसे इस तरह घुमा दिया कि वह आँख एकबारगी निकलकर उस पात्र में आ रही ! ओहो, सचमुच मेरी आँखें बड़ी खूबसूरत थीं, कंचने ! मैंने उसे देखा—खून से लथपथ, फिर भी कितना साफ कोआ ; और बीच की वह पुतली—मालूम होता था, जैसे वह मुझसे कह रही हो—कुमार, मेरा क्या कसूर कि मुझे यों……

कंचने—कुमार, कुमार !

कुणाल—और वह राजदूत भी चिल्ला उठा था, कुमार, कुमार ! लेकिन, मैंने सोचा, तनिक भी विचलित होता हूँ, विलम्ब करता हूँ, तो फिर मुझसे यह काम पूरा नहीं हो सकता। मैंने छुरी की नोक बाईं आँख में भी, उसी तरह, घुसेड़ दी—लेकिन, आह ! मैं उस बेचारी आँख को देख भी नहीं सका ! बेचारी बांईं आंख न जाने वह कहाँ गिरी ; पात्र में या पृथ्वी पर !

कंचना—ओह, ओह ! [कुमार से लिपट जाती है ।]

कुणाल—[उसकी पीठ सहलाता हुआ] कंचने, कंचने ! एक बात बता दो कंचने ! कंचने, तुमने देखा था, वह कहाँ गिरी थी ? कहीं जमीन पर न गिर गई हो ! बेचारी बांईं आँख !

कंचना—ओह, ओह, कुमार, कुमार ! [फूटकर रो पड़ती है ।]

कुणाल—हाँ, हाँ, वह राजदूत इतने जोरों से चीख उठा कि राजभवन में हल्ला मच गया, और मैंने थोड़ी देर के बाद ही तो तुम्हें इसी तरह चिल्लाते सुना था—"कुमार, कुमार, ओह, ओह !" उफ, तुम कितना रोई थी ! [कंचना के सिर पर हाथ फेरते हुए] कंचने, कंचने, किन्तु अब क्यों रो रही हो ? पगली, वह स्वप्न था ! सारा स्वप्न ! संसार को

दार्शनिकों ने जो स्वप्न कहा है, वह कितना सत्य है कंचने ! किन्तु, एक बात है, मेरी रानी ! बार-बार मन में प्रश्न उठा करता है—यह क्या हुआ ? पिताजी ने यह क्या किया ? एक बार मन में आया था, कोई षड्यंत्र तो नहीं—इसीलिए उस राजाज्ञा को कई बार अच्छी तरह देखा था ! किन्तु, नहीं, पिताजी की ही तो मुहर थी !

कंचना—पिताजी की ही मुहर थी—क्या इसका अर्थ सदा यह होगा कि आज्ञा भी पिताजी की होगी ?

कुणाल—जरूर, जरूर । पिताजी के अतिरिक्त कौन दूसरा उस पर उनकी मुहर लगा सकता है ? सम्राट की मुहर, संसार में सब से पवित्र धरोहर !

कंचना—पवित्र से पवित्र धरोहरों की भी चोरी होती आई है, कुमार !

कुणाल—अरे, तू यह क्या बोल गई, कंचने ? चोरी !—किसने चोरी की होगी ? नहीं, नहीं, ऐसा हो नहीं सकता । वह मुहर सदा पिताजी के पास ही रहती है !

कंचना—जैसे पिताजी के पास कोई नहीं रहता······रहती ।

कुणाल—रहता······रहती······तो क्या तुम्हें छोटी माताजी······

कंचना—उन्हें माता कहकर, इस पवित्र शब्द का अपमान न कीजिये कुमार ! सत्य नहीं छिपता । पहले मैं भी भ्रम में थी ; पिताजी के बारे में भी सन्देह उग आया था । शायद, उसी का यह प्रायश्चित्त कर रही हूँ । किन्तु, आज वह सत्य तो घाट-बाट की चर्चा बन चुका है । मैं यह बात आप से जानबूझकर छिपाये हुई थी कुमार ! सब की जुबान पर यह चर्चा है—साम्राज्य की एक-एक प्रजा यह सब जान गई है ।

कुणाल—सच ? क्या सचमुच ऐसी बात है, कंचने ?

कंचना—जाने दीजिये कुमार ! हम, सब भूल गये, इसे भी भूल जायँ। जिसने भिखारी का जीवन वरण कर लिया है, वह अब साम्राज्य और सम्राज्ञी आदि की बात भला क्यों सोचे !

कुणाल—[कहता जाता है।] क्या सच ? क्या सचमुच तुमने ऐसी चर्चा सुनी है ? अरे, अरे, उफ। [और सोचने लगता है।]

कंचना—आप यह क्या सोचने लगे ?

कुणाल—कुछ नहीं, कुछ नहीं। [कुछ रुककर] कंचने, मेरी कंचने ! मेरी दुलारी कंचने ! एक बात मस्तिष्क में कौंध गई। तुमने सुना है न कंचने, प्रेम अन्धा होता है ?

कंचना—हूँ !

कुणाल—और, क्या कला भी अन्धी होती है ? ह-ह-ह······ [हँसता है।]

षष्टम दृश्य

[सिंहल-द्वीप का संघाराम। दोपहर का सन्नाटा। भिक्षु महेन्द्र व्यग्रता से टहल रहे हैं। संघमित्रा आती है—वह खड़ी है; किन्तु महेन्द्र टहलते जा रहे हैं। कुछ देर बाद संघमित्रा पुकारती है—]

संघमित्रा—भैया !

[महेन्द्र टहलते जा रहे हैं।]

संघमित्रा—भैया !

[महेन्द्र फिर भी टहल ही रहे हैं।]

संघमित्रा—भैया, मैं !

महेन्द्र—[रुककर] ओ मित्रे !

संघमित्रा—भैया, यह.........

महेन्द्र—हाँ, यह उद्विग्नता ! नहीं, नहीं, यह भिक्षु के उपयुक्त नहीं। कहीं पर कुछ हो, कुछ हो जाय, हमें तो हमेशा शान्त रहना है ! सम्यक समाधि, सम्यक समाधि !

संघमित्रा—इधर दो-तीन दिनों से आपको बहुत ही आकुल देख रही हूँ भैया ! ज्योंही आप एकान्त में हुए कि व्याकुलता.........

महेन्द्र—ओहो, इतनी बारीकी से देखा करती हो तुम मुझे ?

संघमित्रा—यहाँ और कौन है, जिसे अपने से बढ़कर देखूँ ! भैया, ममता मनुष्य की सब से बड़ी कमजोरी है न ?

महेन्द्र—सही कह रही हो मित्रे ! ममता मनुष्य की सब से बड़ी कमजोरी है। नहीं तो रक्षिता कुछ करे, कुणाल का कुछ हो जाय, हमें क्या लेना-देना है इन बातों से ! लेकिन.........

संघमित्रा—[बीच में ही आतुर होकर] रक्षिता ? कुणाल ? भैया, क्या आखिर कुछ होकर ही रहा ?

महेन्द्र—हाँ, मेरी आशंका सोलह आने सच साबित हुई, मेरी बहन ! आह कुणाल ! कुणाल ! [आँखों से आँसू आ जाते हैं।]

संघमित्रा—भैया ! आपकी आँखों में यह आँसू !

महेन्द्र—हाँ, जिन्दगी में यह शायद पहली बार आँसू निकले हैं, मित्रे ! कम-से-कम जब से होश हुआ, याद नहीं, कभी रोया होऊँ करुणा का स्रोत न जाने कब से अवरुद्ध था ; बहुत दिनों पर फूटा है !

और, जब फूटा है········ ! आह, बहने दो, बहने दो ! बहने दो मेरी नन्ही बहन ! [आँसू झर-झरकर गिरने लगते हैं ।]

संघमित्रा—[व्याकुल होकर] भैया, क्या बात है भैया ? कुणाल भैया का क्या हुआ ? क्या हुआ कुणाल भैया का ? [निकट जाकर] बोलते क्यों नहीं ? कुणाल भैया का क्या हुआ ? उफ, ओह ! [फूट पड़ती है ।]

महेन्द्र—[अपने आँसुओं को रोकते हुए] मित्रे, नहीं, नहीं । हम दोनों में से एक को तो होश में रहना ही है ! हाँ, कुणाल, कुणाल······

संघमित्रा—कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! उन्हें क्या हुआ भैया ! वह कहाँ हैं भैया ? भैया, भैया ! [लिपट जाती है ।]

महेन्द्र—कुणाल भैया का क्या हुआ ? हाय रे कुणाल ! वज्र गिरा भी, तो कमल-नाल पर ! हम-तुम—पिताजी, माताजी—सब सस्ते निकल गये ! सस्ते निकल गये, निकल गये ; और सब से बड़ा दान देना पड़ा उसे, जो हम सब में सब से दुर्बल था !

संघमित्रा—दान ? क्या दान देना पड़ा कुणाल भैया को ? बताइये, भैया, बताइये—नहीं तो, मेरी छाती फट जायगी—ओह, आह ! [कलेजे को दोनों हाथों से पकड़ती है ।]

महेन्द्र—मित्रे ! मित्रे ! यह ठीक नहीं, यह ठीक नहीं । हम सब को कुछ-न-कुछ देना पड़ा है—कुणाल, जरा पीछे पड़ गया था ; इसीलिए उसे सब से बड़ा दान देना पड़ा !

संघमित्रा—[खीझकर] दान ! दान ! दान ! क्या दान ?

बताइये ; नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी भैया, पागल······पागल······पागल [विक्षिप्त-सी चिल्लाने लगती है ।]

महेन्द्र—शान्त बहन, शान्त ! तुम इस तरह कर रही हो ? सोचो कंचना कैसे होगी ! बेचारी—उफ—अन्धे की लाठी !

संघमित्रा—अन्धे की लाठी ! कौन अन्धा हुआ भैया ! कुणाल भैया······अन्धा ! अन्धा ! कौन अन्धा ?

महेन्द्र—[बात काटकर] हाँ, तुम्हारा कुणाल भैया आज अन्धा हो चला है !

संघमित्रा—ओह, ओह ! [मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है । महेन्द्र उसे सम्हालते हैं ; बैठ जाते हैं, अपनी जाँघों पर उसका सर रखे, मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहते हैं ।]

महेन्द्र—अन्धा ! नहीं, नहीं, कहने में भूल हो गई ! कुणाल अन्धा नहीं । कुणाल ने नेत्र-दान दिया है ! नेत्र-दान ! मित्रे, नेत्र-दान ! प्राण-दान से भी बड़ा, महान । सर्वोच्च दान—पवित्र दान ! यह दान कुणाल ही दे सकता था मित्रे !

संघमित्रा—[महेन्द्र की गोद में सिर रखकर हिचकियों पर हिचकियाँ लेती है—रह-रहकर फूट पड़ती है ।]

महेन्द्र—[उसका सर ऊपर उठाते हुए] जो होना था, सो हुआ मित्रे ! सारी बातें बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से हुईं । रक्षिता बेचारी अपने को जब्त न रख सकी । कुणाल अपनी रक्षा न कर सका । कंचना ने उसे बचाना चाहा ; किन्तु बात उलटी हो गई । आह, कुणाल—दुर्बल, कोमल, असहाय······

संघमित्रा—[जैसे अचानक चौंककर, गुस्से में आकर] और यह सब पिताजी के अद्भुत !

महेन्द्र—पगली, तुम इन बड़े लोगों को नहीं जानती। ये अपनी धुन में इतने मस्त रहते हैं कि इनकी नाक की सीध में भी क्या हो रहा है, नहीं जानते। सब से बड़ी तो बात यह होती है कि इनके अपने लोगों को ही सब से अधिक कष्ट सहना और उठाना पड़ता है। शायद, यह भी उचित ही है। इतिहास के कोने में इन्हें जो अनायास थोड़ा-सा स्थान मिल जाता है, उसकी कीमत तो चुकानी ही चाहिये। हम-तुम, सब चुका रहे हैं। किन्तु, कुणाल······

संघमित्रा—भैया, जरा विस्तार से कहिये भैया, ब्योरेवार बताइये भैया !

महेन्द्र—विस्तार से सुनोगी ! सुन लोगी ! घबराओ नहीं, तुम सुनोगी, संसार सुनेगा। कुणाल के इस नेत्रदान ने, महादान ने इतिहास में एक ऐसी घटना की सृष्टि की है कि युग-युग तक लोग इसे सुनना चाहेंगे, सुनेंगे। इस घटना पर आख्यान बनेंगे, काव्य बनेंगे, नाटक बनेंगे। मित्रे, आह ! सचमुच कितनी बड़ी बात हो गई ! नेत्रदान···

संघमित्रा—हाय रे यह नेत्रदान ! नेत्र ! और कुणाल भैया के नेत्र ! कुणाल भैया की आँखें—वे कितनी सुन्दर थीं भैया ! क्या रक्षिता की कुदृष्टि उनपर पड़ी ?

महेन्द्र—'कु' या 'सु'—यह तो मानव अपनी मनोभावना के अनुसार विशेषण लगाता है, मेरी नन्ही बहन ! हम-तुम इस पर व्यर्थ क्यों सिर खपायें ? जानती हो, किसी भी महान यज्ञ में सुन्दरतम की बलि देकर ही

पूर्णाहुति की जाती है। पिताजी ने जो महानतम धर्म-यज्ञ प्रारम्भ किया था ; इस वलि के बाद, वह अब पूर्ण हो गया !

संघमित्रा—हाय रे वह यज्ञ ; आह री यह वलि !

महेन्द्र—मित्रे, यज्ञ और वलि दोनों में गठबंधन है। जहाँ यज्ञ, वहाँ वलि। और निरीह मूक पशुओं की जगह, चेतन, उद्‌बुद्ध मानवों की वलि कहीं सुन्दर है, श्रेयस्कर है। और उसमें भी कुणाल ऐसे शुद्ध और शुभ्र मानव की सुन्दरतम आँखें पाकर तो वलि भी धन्य हो उठी होगी मित्रे ! उठो, मित्रे ! ऐसे भाई को पाकर हम भी अपने को धन्य-धन्य···

संघमित्रा—भैया, भैया ! ओह ! कुणाल भैया···

[फिर फूट पड़ती है।]

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित्त अब पूरा हो गया। हमने जो असंख्य गर्दनें काटकर रक्त बहाया, उसका मूल्य हमें आँखों के रक्त से चुकाना पड़ा—सुन्दरतम आँखों के रक्त से ! शुद्ध, शुभ, कोमल-निर्मल मानवकी सुन्दरतम आँखों के पवित्रतम रक्त से। इतिहास का यह सब से बड़ा पाठ······

संघमित्रा—हाय रे यह पाठ ! आह रे कलिंग ! कलिंग ! कलिंग !

[आँखें मूँद लेती है।]

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग पर नाराज मत हो। कलिंग स्थान नहीं, एक प्रतीक है ;—कलिंग प्रतीक है युद्ध का, हत्या का, मानवता के संहार का ! युग-युग से कलिंग होते रहे हैं, और अभी शायद······

संघमित्रा—क्या फिर कलिंग होंगे भैया ! क्या फिर कोई कुणाल

बनेगा भैया ! कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! भैया, भैया, भगवान फिर कहीं कलिंग न बनावें······

महेन्द्र—फिर कलिंग न बने—बहुत ठीक ! लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए हमें एक नया संसार बनाना होगा, मित्र ! उठो, चलो, हम एक ऐसा संसार बनायें, जहाँ कलिंग न हो। कलिंग, अशोक, संघमित्रा, सिंहल, रक्षिता, कुणाल—ये सब एक ही घटना-श्रृङ्खला की कड़ियाँ हैं मित्र ! कुणाल ने नेत्र-दान देकर हमारे, संसार के नेत्र खोलने की चेष्टा की है। यदि इतने पर भी हम न चेतें, तो संसार की रक्षा कोई भगवान भी नहीं कर सकता, मित्र ! उठो, चलो—आँसू पोंछो, प्रयत्न में लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझे, उसमें जुट जाय, तो फिर नया संसार बसकर रहेगा—बसकर, बसकर !

[*पटाक्षेप*]